नेता जी का चश्मा

स्वयं प्रकाश

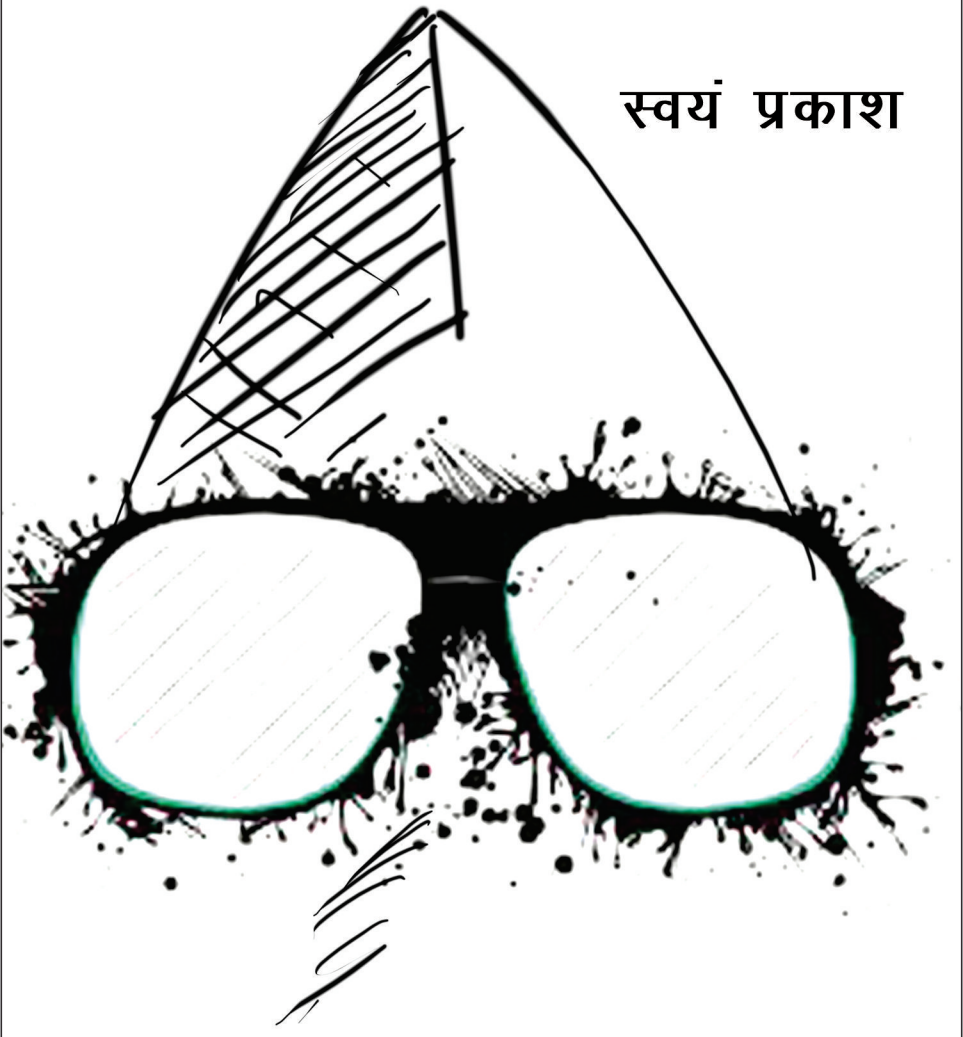

नेता जी का चश्मा

स्वयं प्रकाश

हालदार साहब को हर पंद्रहवें दिन कंपनी के काम से सिलसिले में उस कस्बे से गुज़रना पड़ता था।

कस्बा बहुत बड़ा नहीं था। जिसे पक्का मकान कहा जा सके वैसे कुछ ही मकान और जिसे बाज़ार कहा जा सके वैसा एक ही बाज़ार था। कस्बे में एक लड़कों का स्कूल, एक लड़कियों का स्कूल, एक सीमेंट का छोटा-सा कारखाना, दो ओपन एयर सिनेमाघर और एक ठो नगरपालिका भी थी। नगरपालिका थी तो कुछ-न-कुछ करती भी रहती थी। कभी कोई सड़क पक्की करवा दी, कभी कुछ पेशाबघर बनवा दिए, कभी कबूतरों की छतरी बनवा दी तो कभी कवि सम्मेलन करवा दिया। इसी नगरपालिका के किसी उत्साही बोर्ड या प्रशासनिक अधिकारी ने एक बार 'शहर' के मुख्य बाज़ार के मुख्य चैराहे पर नेताजी सुभाषचंद्र बोस की एक संगमरमर की प्रतिमा लगवा दी। यह कहानी उसी प्रतिमा के बारे में है, बल्कि उसके भी एक छोटे-से हिस्से के बारे में।

पूरी बात तो अब पता नहीं, लेकिन लगता है कि देश के अच्छे मूर्तिकारों की जानकारी नहीं होने और अच्छी मूर्ति की लागत अनुमान और उपलब्ध बजट से कहीं बहुत ज़्यादा होने के कारण काफी समय ऊहापोह और चिट्ठी-पत्री में बरबाद हुआ होगा और बोर्ड की शासनावधि समाप्त होने की घड़ियों में किसी स्थानीय कलाकार को ही अवसर देने का निर्णय किया गया होगा, और अंत में कस्बे के इकलौते हाई स्कूल के इकलौते ड्राइंग मास्टर-मान लीजिए मोतीलाल जी- को ही यह काम सौंप दिया गया होगा, जो महीने-भर में मूर्ति बनाकर 'पटक देने' का विश्वास दिला रहे थे।

जैसा कि कहा जा चुका है, मूर्ति संगमरमर की थी। टोपी की नोक के कोट के दूसरे बटन तक कोई दो फुट ऊँची। जिसे कहते हैं बस्ट। और सुन्दर भी। नेताजी सुंदर लग रहे थे। कुछ-कुछ मासूम और कमसिन। फौजी वर्दी में। मूर्ति को देखते ही 'दिल्ली चलो' और 'तुम मुझे खून दो....' वगैरह याद आने लगते थे। इस दृष्टि से यह सफल और सराहनीय प्रयास था। केवल एक चीज़ की कसर थी जो देखते ही खटकती थी। नेताजी की आँखों पर चश्मा नहीं था। यानी चश्मा तो था, लेकिन संगमरमर का नहीं था। एक सामान्य और सचमुच के चश्मे का चैड़ा काला फ्रेम मूर्ति को पहना दिया गया था। हालदार साहब जब पहली बार इस कस्बे से गुज़रे और चैराहे पर पान खाने

रुके तभी उन्होंने इसे लक्षित किया और उनके चेहरे पर एक कौतुकभरी मुसकान फैल गई। वाह भाई! यह आइडिया भी ठीक है। मूर्ति पत्थर की, लेकिन चश्मा रियल!

जीप कस्बा छोड़कर आगे बढ़ गई तब भी हालदार साहब इस मूर्ति के बारे में ही सोचते रहे, और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुल मिलाकर कस्बे के नागरिकों का यह प्रयास सराहनीय ही कहा जाना चाहिए। महत्त्व मूर्ति के रंग-रूप या कद का नहीं, उस भावना का है वरना तो देश-भक्ति भी आजकल मज़ाक की चीज होती जा रही है।

दूसरी बार जब हालदार साहब उधर से गुज़रे तो उन्हें मूर्ति में कुछ अंतर दिखाई दिया। ध्यान से देखा तो पाया कि चश्मा दूसरा है। पहले मोटे फ्रेमवाला चैकोर चश्मा था, अब तार के फ्रेमवाला गोल चश्मा है। हालदार साहब का कौतुक और बढ़ा। वाह भई! क्या आइडिया है। मूर्ति कपड़े नहीं बदल सकती लेकिन चश्मा तो बदल ही सकती है।

तीसरी बार फिर नया चश्मा था।

हालदार साहब की आदत पड़ गई, हर बाद कस्बे से गुज़रते समय चैराहे पर रुकना, पान खाना और मूर्ति को ध्यान से देखना। एक बार जब कौतूहल दुर्दमनीय हो उठा तो पानवाले से ही पूछ लिया, 'क्यों भई! क्या बात है? यह तुम्हारे नेताजी का चश्मा हर बार बदल कैसे जाता है?'

पानवाले के खुद के मुँह में पान ठुँसा हुआ था। वह एक काला मोटा और खुशमिज़ाज़ आदमी था। हालदार साहब का प्रश्न सुनकर वह आँखों-ही-आँखों में हँसा। उसकी तोंद थिरकी। पीछे घूमकर उसने दुकान के नीचे पान थूका और अपनी लाल-काली बत्तीसी दिखाकर बोला, 'कैप्टन चश्मेवाला करता है।'

'क्या करता है?' हालदार साहब कुछ समय नहीं पाए।

'चश्मा चेंज कर देता है।' पानवाले ने समझाया।

'क्या मतलब? क्यों चेंज कर देता है?' हालदार साहब अब भी नहीं समझ पाए।